

सम्पादक

डा० मोहनलाल मेहता

सह-सम्पादक

श्री हरिहर सिंह

श्री धन्यकुमार राजेश

प्रस्तुत अंक में :

- | | | |
|----|---|----|
| १. | महावीर-वाणी— | १ |
| २. | भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण
—श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री | ३ |
| ३. | वर्ण-विचार—श्री रमेशचन्द्र जैन | ७ |
| ४. | जैन एवं न्याय दर्शन में कर्म-सिद्धान्त
—श्री प्रेमकुमार अग्रवाल | १२ |
| ५. | षड्दर्शनसमुच्चय के लघु टीकाकार सोमतिलकसूरि
—श्री अगरचन्द्र नाहटा | २० |
| ६. | समराइच्चकहा में चार्वाक दर्शन—श्री झिनकू यादव | २४ |
| ७. | विश्वेश्वरकृत शृंगारमंजरी-सट्टक का अनुवाद
—डा० के० आर० चन्द्र | २८ |
| ८. | अपनी बात— | ३३ |
| ९. | जैन जगत्— | ३७ |

वार्षिक

एक प्रति

छः रुपये

पचास पैसे

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हो।



जनविद्या का मासिक

वर्ष २४

नवम्बर १९७२

अंक १

महावीर-वाणी

(१)

न तं अरी कंठ-छेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहणो ॥

सिर काटनेवाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता जितना कि दुराचरण में लगी हुई अपनी आत्मा करती है। दयाशून्य दुराचारी को अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नहीं आता, परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुंचता है तब दुराचरणों को याद करके पछताता है।

(२)

जस्सेवमप्पा उ ह्वेज्ज निच्छिओ, चइज्ज देहं नहु धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पयलेन्ति इन्दिया, उवेन्ति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥

जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो कि 'मैं शरीर छोड़ सकता हूं परन्तु अपना धर्मशासन नहीं छोड़ सकता' उसे इन्द्रियां कभी विचलित नहीं कर सकतीं, जैसे—भीषण बवंडर सुमेरु पर्वत को।

(३)

अप्पा हु खलु समयं रक्खियव्वो, सव्विन्दिएहि सुसमाहिएहि ।
अरक्खओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खओ सव्वदुक्खाण मुच्चइ ॥

समस्त इन्द्रियों को खूब अच्छी तरह समाहित करते हुए पापों से अपनी आत्मा की निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिए । पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटका करती है और सुरक्षित आत्मा संसार के सब दुःखों से मुक्त हो जाती है ।

(४)

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ।

शरीर को नाव कहा है, जीव को नाविक कहा जाता है और संसार को समुद्र बतलाया है । इसी संसार-समुद्र को महर्षिजन पार करते हैं ।

(५)

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं, सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से ॥

जो प्रव्रजित होकर प्रमाद के कारण पांच महाव्रतों का अच्छी तरह पालन नहीं करता, अपने आपको निग्रह में नहीं रखता, कामभोगों के रस में आसक्त हो जाता है वह जन्म-मरण के बन्धन को जड़ से नहीं काट सकता ।



भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण

श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री

भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण का भारतीय संस्कृति में विशिष्ट स्थान है। दोनों संस्कृति के सजग प्रहरी ही नहीं अपितु संस्कृति और सभ्यता के निर्माता हैं। जैन संस्कृति में जिस प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि की गौरव-गाथाएं मुक्त कंठ से गाई गई हैं उसी प्रकार स्नेह की स्याही में डुबोकर श्रीकृष्ण के अनलोद्धत व्यक्तित्व को भी उट्टुद्धित किया गया है। मैं साधिकार कह सकता हूँ कि श्रीकृष्ण के जीवन के उज्ज्वल प्रसंग जो जैन साहित्य में उपलब्ध हैं, वे प्रसंग न तो वैदिक साहित्य में प्राप्त हैं और न बौद्ध साहित्य में ही। जैन साहित्य में श्रीकृष्ण भगवान् नहीं, किन्तु महामानव हैं, उन्हें वासुदेव और श्लाघनीय पुरुष कहा गया है। एक गरीब वृद्ध व्यक्ति को ईंटें उठाते हुए देखकर उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता है। तीन खण्डों के अधिगति होने पर भी वे स्वयं ईंटें उठाते हैं यह प्रसंग उनकी मानवता की भावना को उजागर करता है। वे माता-पिता व गुरुजनों को भक्ति-भावना से विभोर होकर नमस्कार करते हैं, उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। यह सब उनकी विनम्र-भावना के परिचायक हैं। वासुदेव होने के कारण वे स्वयं संयम-साधना को स्वीकार नहीं कर सकते हैं, पर अपने पुत्र, पुत्री तथा अन्य परिजनों को त्याग, वैराग्य व संयम की प्रेरणा देते हैं, यह उनके विचारों की निर्मलता का द्योतक है। मृत कुत्ते के शरीर में कीड़े बुलबुला रहे हैं, भयंकर दुर्गन्ध से मस्तिष्क फटने जा रहा है, उस समय भी वे उसके चमचमाते हुए दाँतों को ही देखते हैं यह उनके गुणानुरागी स्वभाव को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार अनेक प्रसंग हैं जो उनकी मानवता की महत्ता को प्रदर्शित करते हैं। वे सारे प्रसंग इतने सुन्दर और रसप्रद हैं कि उनके अभाव में श्रीकृष्ण के तेजस्वी व्यक्तित्व को समझा नहीं जा सकता। वैदिक साहित्य में श्रीकृष्ण के जीवन को विस्तार से लिखा गया है। प्राचीन और मध्ययुग के साहित्य में श्रीकृष्ण की लीलाओं का निरूपण है। उन्हें राधा

और गोपी-वल्लभ के रूप में चित्रित किया गया है पर जैन साहित्य में उनके उस रूप के दर्शन नहीं होते हैं। श्रीकृष्ण के जीवन की अनेक घटनाएँ जो जैन साहित्य में हैं, वैसे ही घटनाएँ शब्दों के हेर-फेर के साथ वैदिक साहित्य में भी हैं। किस संस्कृति ने किससे कितना लिया, यह कहना अत्यन्त कठिन है। महापुरुष सूर्य, चाँद, हवा और पानी की तरह होते हैं। वे किसी भी सम्प्रदाय विशेष की धरोहर नहीं होते। उनका सार्वभौमिक व्यक्तित्व प्रत्येक के लिए अनमोल निधि है। महापुरुष को सम्प्रदाय विशेष के घेरे में आबद्ध करना उनके प्रति अन्याय करना है। साम्प्रदायिक ग्लास के चश्मे को उतारकर ही महापुरुष को देखने से उनका वास्तविक रूप समझ में आ सकता है।

यह पूर्ण सत्य है कि जितना श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में विस्तार से लिखा गया है उतना भगवान् अरिष्टनेमि के सम्बन्ध में नहीं। वैदिक और अन्य साहित्य से जितने भी प्रमाण मुझे प्राप्त हुए हैं वे 'भगवान् अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता' शीर्षक निबन्ध में दिये हैं और जो अमरण में प्रकाशित हुआ है। वैदिक हरिवंशपुराण में भी महर्षि वेद व्यास ने श्रीकृष्ण को अरिष्टनेमि का चचेरा भाई माना है। उन्होंने यदुवंश का परिचय देते हुए लिखा है कि महाराजा यदु के सहस्रद, पयोद, क्रोष्ठा, नील और अंजिक नाम के देवकुमारों के तुल्य पाँच पुत्र हुए।^१ क्रोष्ठा की माद्री नामक द्वितीय रानी से युधाजित और देवमीठुष नामक दो पुत्र हुए।^२

क्रोष्ठा के ज्येष्ठ पुत्र युधाजित के वृष्णि और अंधक नामक दो पुत्र हुए। वृष्णि के भी दो पुत्र हुए, एक का नाम स्वफल्क और दूसरे का नाम चित्रक था।^३ स्वफल्क के अक्रूर नामक महादानी पुत्र हुआ।^४ चित्रक के पृथु, विपृथु, अश्वश्रीव, अश्वबाहु नामक पुत्र और श्रविष्ठा और श्रवणा नामक पुत्रियाँ हुईं।^५ यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रीमद्भागवत में विष्णु के दो पुत्रों का नाम स्वफल्क तथा चित्ररथ (चित्रक) दिया है। चित्ररथ (चित्रक) के पुत्रों का नामोल्लेख करते हुए "पृथुर्विपृथुचन्याद्याः"

१. हरिवंशपुराण (वैदिक), १.३३.१.

२. वही, १.३४.१-२.

३. वही, १.३४.३.

४. वही, १.३४.११.

५. वही, १.१४. १४-१५.

लिखा है। ऊपर पाठ में 'पृथुर्विदूरथाद्याश्च' का उल्लेखकर केवल तीन और दो पुत्रों के नाम लिखकर आगे प्रभृति लिख दिया गया है।

हरिवंश में अरिष्टनेमि के वंश-वर्णन के साथ ही श्रीकृष्ण का वंश-वर्णन भी दिया है। यदु के क्रोष्टा के द्वितीय पुत्र देवमीदुष के पुत्र सूर और उनके पुत्र वसुदेव प्रभृति दस पुत्र तथा पृथुकीर्ति आदि पाँच पुत्रियां हुईं।^१ वसुदेव की देवकी नामक रानी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ।^२

सारांश यह कि वैदिक परम्परा की दृष्टि से भी श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि ये दोनों चचेरे भाई सिद्ध होते हैं। दोनों के परदादा युधाजित और देवमीदुष सहोदर थे।

वैदिक और जैन संस्कृति की परम्परा में यही अन्तर है कि जैन साहित्य में अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय वसुदेव के बड़े भ्राता हैं जबकि वैदिक हरिवंश-पुराण के अभिमतानुसार चित्रक और वसुदेव चचेरे भाई थे। चित्रक का ही श्रीमद्भागवत में चित्ररथ नाम आया है। संभव है चित्रक या चित्ररथ का ही अपरनाम समुद्रविजय रहा हो। दोनों परम्पराओं के नामों में जो अन्तर है उसके मूल कारण अनेक हो सकते हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण को तुलना करने पर कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आते हैं।

श्रीकृष्ण गोपाल थे, उन्होंने बाल्यकाल में गायें चराई थीं, जिसके कारण वैदिक परम्परा में गो-पूजा का महत्त्व स्थापित हुआ। गाय को माता और वृषभ को पिता माना गया है।^३ गाय से रहित स्थान को श्मशान माना गया।^४

६. देवभागस्ततो जज्ञे, तथा देवश्रवा पुनः।

अनाद्यष्टि कनवको, वत्सवानथ गुंजिमः ॥

श्यामः समीको गण्डूषः पंच चास्य वरांगनाः।

पृथुकीर्ति पृथा चैव, श्रुत देवा श्रुतश्रवाः ॥—२१-२३.

राजाधिदेवी च तथा, पंचैते वीर मातरः।—१. ३४.

७. वसुदेवाच्च देवक्यां, जज्ञे शौरि महायशाः।—१.३५.७.

८. (क) गोर्मेमाता ऋषभः पिता

(ख) गावो विश्वस्य मातरः

९. धेनोश्च रहितं स्थानं श्मशानमेव मुच्यते।

आज भारतवर्ष में गोवध सबसे बड़ा पाप माना जाता है, वह हमारी दृष्टि से श्रीकृष्ण की देन है ।

भगवान् अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण से भी आगे बढ़े । उन्होंने गाय को ही नहीं अपितु समस्त प्राणिमण्डल के वध को हेय बताया तथा मांसाहार का तीव्र विरोध किया । जिसके फलस्वरूप जैन परम्परा ही नहीं, अपितु वैदिक परम्परा भी मांसाहार को बुरा मानने लगी ।

यह पूर्ण सत्य है कि श्रीकृष्ण की अपेक्षा राम अधिक मर्यादापालक थे, इसी-लिए उन्हें मर्यादापुरुषोत्तम कहा जाता है । वाल्मीकि रामायण और रामचरित-मानस के अभिमतानुसार श्रीराम शिकार करते थे और मांसाहार भी । किन्तु वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के जीवन-प्रसंग में ऐसी बात दृष्टिगोचर नहीं होती । इससे ज्ञात होता है कि उन पर भगवान् अरिष्टनेमि का प्रभाव था ।

समस्त भारतवर्ष में गो-पालन और गोशालामण्डलों का महत्त्वपूर्ण स्थान श्रीकृष्ण की देन है । गुजरात, सौराष्ट्र और राजस्थान में गायों के साथ ही अन्य प्राणियों का भी पालन-पोषण किया जाता है जिसे पांजरापोल कहते हैं । यह भगवान् अरिष्टनेमि की देन है ।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण के जीवन में प्रवृत्ति की प्रधानता तथा अरिष्टनेमि के जीवन में निवृत्ति की प्रधानता है । वैदिक संस्कृति प्रवृत्तिप्रधान है और श्रमण संस्कृति निवृत्तिप्रधान । इस प्रकार दोनों ही महापुरुषों में भारतीय संस्कृति, जो श्रमण और वैदिक संस्कृति का मिला-जुला रूप है, का रूप देखा जा सकता है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो भगवान् श्री ऋषभदेव गृहस्थाश्रम में प्रवृत्ति-प्रधान रहे और साधु-श्रवस्था में निवृत्तिप्रधान । उनके गृहस्थाश्रम का अनुकरण श्रीकृष्ण के जीवन में देखा जा सकता है और सन्त-जीवन का अनुसरण भगवान् अरिष्टनेमि के जीवन में ।



वर्ण-विचार

श्री रमेशचन्द्र जैन

ऋग्वेदीय काल में दो परस्पर विरोधी दल थे—आर्य एवं दस्यु (दास) जो एक दूसरे से धर्म, रंग, पूजापाठ, बोली एवं स्वरूप से भिन्न थे। अतः अति प्राचीनकाल में वर्ण शब्द केवल दस्यु एवं आर्य से ही सम्बन्धित था। यद्यपि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय शब्द ऋग्वेद में बहुधा प्रयुक्त हुए हैं किन्तु वर्ण शब्द का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में जो कि विद्वानों की दृष्टि में अर्वाचीन माना जाता है, ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख हुआ है किन्तु वहाँ वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।^१ ऋग्वेद में एक ऋषि कहता है—मैं स्तुतिकर्ता हूँ, मेरे पिता वैद्य है और मेरी माता चक्कियों में आटा पीसती है। हमलोग त्रिविध क्रियाओं द्वारा जीविकोपार्जन करना चाहते हैं।^२ एक स्थान पर ऋषि कहता है—ओ सोमपान करनेवाले इन्द्र ! तुम मुझे लोगों का रक्षक बनाओगे या राजा ? तुम मुझे सोम पीकर मस्त रहनेवाला ऋषि बनाओगे या अनन्त धन दोगे।^३ स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति ऋषि या भद्र पुरुष हो सकता था। अतः जन्म के आधार पर ऋग्वेद काल में वर्णविभाजन नहीं था यह सर्वसम्मत है। बाद में ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र ग्रन्थों में इस प्रकार का विभाजन स्वीकृत हुआ।^३ *

बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त जाति-पांति के प्रतिकूल थे। बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर जन्म की अपेक्षा गुण और कर्म को प्रधान माना गया है। जीवन के सबसे ऊँचे व्यय निर्वाण के लिए बौद्धों ने जाति-पांति के भेद को निरर्थक

१. काण्वे, धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनु०), पृ० ११०.

२. ऋग्वेद, ६.११.२.३.

३. वही, ३.४४.५.

३*. आपस्तम्बधर्मसूत्र, १.६.२७.११; बौधायनधर्मसूत्र २४.१.५६.

बतलाया है। मोक्ष पाने में कुलीनता से कोई सहायता नहीं मिलती है; नीच कुल में पैदा होने से कोई बाधा नहीं होती। अपने कर्मों से ही शान्ति और परम सुख की प्राप्ति हो सकती है। वर्ण पर जोर देने से क्या लाभ ?^१

आठवीं-नौवीं शती से पूर्व के जैन साहित्य में किसी भी प्रकार से चार वर्ण और उनके अलग-अलग कर्मों का उल्लेख नहीं हुआ है। आठवीं शताब्दी से लेकर जिन्होंने इनका उल्लेख किया है वे परस्पर एकमत नहीं हैं और योग्यता के आधार पर जैनधर्म में जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य) के प्रतिपादन की प्रक्रिया है उसके साथ इसका मेल नहीं खाता है। इससे तो ऐसा ही मालूम पड़ता है कि वर्णश्रम धर्म पूर्वकाल में भी स्वीकृत नहीं रहा है।^२ वरांगचरित में सम्राट् वरांग के मुख से स्पष्टरूप से कहा गया है कि समस्त संसार की प्रजा में यदि अपनी साधारण योग्यताओं के कारण ऐक्य ही है तो यही प्रश्न उठता है कि मनुष्य वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में किस आधार पर विभक्त किया गया है। मनुष्य के इन चार भेदों को जब हम प्रमाण, नय तथा इनको विशद करके समझाने में समर्थ दृष्टान्तों को विस्तृत तथा सूक्ष्म कसौटी पर कसते हैं तो यह जाति-व्यवस्था बिलकुल उलझ जाती है।^३ उदाहरणार्थ पिता के चार पुत्र पैदा हुए उन चारों की भ्रवस्था, रूप, रंग आदि सभी बातों में तारतम्य होने पर भी इतना निश्चित है कि उनकी जाति एक ही होगी।^४ पूर्ण विश्व के मनुष्यों का उत्पादक मनुष्य जाति नाम कर्म एक ही है और जब कि मूल उत्पादक एक ही है तो कोई कारण नहीं कि उनकी जातियाँ अलग-अलग हों। किसी भी वृक्ष में शिखापर्यन्त लगने वाले फलों में रंग, आकार, घन तथा स्पर्श आदि सबही गुण समान होते हैं फलतः उनकी एक ही जाति होती है।^५ सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण पूर्णचन्द्र की शीतल किरणों के तुल्य धवल नहीं होते हैं। क्षत्रिय का बाह्य रूप तथा आचरण भी किशुक पुष्प के समान गौर नहीं है। तृतीय वर्ग में विभक्त वैश्यों का आचार-विचार भी हरिताल पुष्प के समान

४. बेनोप्रसाद, हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० १६७.

५. पं० फूलचन्द्र शास्त्री, वर्ण, जाति और धर्म, पृ० १७८.

६. जटासिंहनन्दिकृत वरांगचरित, २५. २.

७. वही, २५.३.

८. वही, २५.४.

हरे रंग का नहीं है तथा अंतिम वर्ण शूद्रों का शरीर तथा मन भी बुझे हुए अंगारे के समान कृष्णवर्ण नहीं होता है ।^१ यह कथन महाभारत के उस कथन के विपरीत लिखा गया प्रतीत होता है जिसमें कहा गया है कि ब्रह्मा की सन्तान होने से सभी को ब्राह्मण कहा जा सकता है । प्रारम्भ में सभी का रंग सफेद था । बाद में कर्मों की विविधता से वर्णों का विभाजन हुआ । जो लोग क्षत्रिय का कार्य करने लगे वे लाल हो गये । जो खेतीवाड़ी में लग गये वे पीले हो गये । जिन्होंने अनाचार और अनृत का रास्ता अपनाया वे काले हो गये ।^{१०} इसी के विरोध में वरांगचरित के कर्ता जटासिंहनन्दि कहते हैं—चारों वर्णों के मनुष्यों की त्वचा, मांस, रक्त, मज्जा, हड्डी तथा शुक्र आदि समस्त रस एक ही प्रकार के होते हैं । उनके चलने, बैठने, शरीर के साधारण निर्माण, रूप, रंग, केश आदि अङ्गों तथा शरीर की चेष्टाओं में कोई भेद नहीं होता है । सुख, शोक, चिन्ता, दुःख, प्रसन्नता, शम आदि भावों का विचार करने पर तो मनुष्यमात्र में कोई भी भेद दृष्टिगोचर होता ही नहीं है ।^{११}

जटासिंहनन्दि के समान आचार्य रविषेण भी जन्म से किसी वर्ण को स्वीकार नहीं करते । उन्होंने जन्म से वर्ण-व्यवस्था का खण्डन बड़े ही समर्थ शब्दों में किया है । वे कहते हैं—वेदमंत्र और अग्नि से संस्कारित होकर शरीर में कोई अतिशय उत्पन्न हो जाता है यह बात हमारे ज्ञान के बाहर है । मनुष्य, हाथी, गधा, गाय और घोड़ा इस प्रकार जातिभेद तो है पर मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र इस प्रकार जातिभेद नहीं है क्योंकि तथाकथित दूसरी जाति के मनुष्य द्वारा दूसरी जाति की स्त्री में गर्भ धारण करना और उससे सन्तान की उत्पत्ति हुई देखी जाती है । पशुओं में प्रयत्न करने पर भी एक जाति का पशु दूसरी जाति की स्त्री के साथ संयोग कर सन्तान उत्पन्न नहीं करता है । किन्तु सब मनुष्यों की स्थिति इससे भिन्न है इसलिए जन्म से वर्ण न मानकर कर्म के आधार से वर्ण मानना ही उचित है ।^{१२} इसके उत्तर में कहा जाय कि गवे के द्वारा घोड़ी में गर्भोत्पत्ति देखी जाती है अतः आपकी उक्ति ठीक नहीं है ? तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि एक खुर आदि की अपेक्षा उनमें

६. वही, २५.७.

१०. महाभारत, शान्तिपर्व, १८८. ११. १३.

११. वरांगचरित, २५.८.

१२. पद्मचरित, ११.१६३.

समानता पाई जाती है अथवा दोनों में भिन्न जातीयता ही है यदि ऐसा पक्ष है तो दोनों की जो सन्तान होगी वह विसदृश ही होगी। जैसे कि गधा और घोड़ी के समागम से जो सन्तान होगी वह न घोड़ा ही कहलायगी और न गधा ही किन्तु खच्चर नाम की धारक होगी किन्तु इस प्रकार की सन्तान की विषमता ब्राह्मण्यदि में नहीं देखी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि वर्ण-व्यवस्था गुणों के अधीन है, जाति के अधीन नहीं।^{१३}

आदिपुराणकार ने व्रत-संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र-धारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्ण धनार्जन से वैश्य और नीचवृत्ति से शूद्र कहलाते हैं, ऐसा माना है। भगवान् ऋषभदेव ने तीन वर्णों की स्थापना की थी। भरत चक्रवर्ती ने व्रत-संस्कार की अपेक्षा ग्रहणकर ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की।^{१४} शूद्रों के यहाँ कारु और अकारु ये दो भेद किये गये हैं। धोबो आदि शूद्र कारु कहलाते हैं, उनसे भिन्न अकारु। कारु-शूद्र भी स्पृश्य और अस्पृश्य के भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें से जो प्रजा और समाज से बाहर रहते हैं उन्हें अस्पृश्य कहते हैं और जो समाज के अन्दर रहते हैं वे स्पृश्य कहलाते हैं जैसे स्वर्णकार आदि।^{१५} महापुराण के पूर्ववर्ती वराह-चरित, पद्मपुराण और हरिवंशपुराण में ये भेद नहीं मिलते हैं। शूद्रों का उपनयन आदि संस्कार नहीं करना चाहिए, आर्य षट्कर्म के वे अधिकारी नहीं हैं तथा दीक्षायोग्य केवल तीन वर्ण हैं, इन सब बातों का विधान भी महापुराण में ही किया गया है, इससे पूर्ववर्ती किसी भी पुराण और आचार ग्रन्थ में नहीं।^{१६} यहाँ पर जिनसेन ब्राह्मण परम्परा से प्रभावित जान पड़ते हैं। यद्यपि ये सिद्धान्त जैन परम्परा के प्रतिकूल थे पर वर्ण-व्यवस्था की जड़ गहरी हो जाने के कारण जिनसेन जैसे आचार्य भी उसकी लपेट में आ गये। इसी प्रकार का प्रभाव बहुत कुछ बौद्ध परम्परा पर भी पड़ा। ललितविस्तर में आया है कि बोधिसत्त्व कभी हीन कुलों जैसे—रथकार, चांडाल, पुक्कुस आदि के कुलों में जन्म नहीं लेता। बोधिसत्त्व सदा ऊँचे कुल में पैदा होता है। जब ब्राह्मणों का विशेष आदर होता है तब वह ब्राह्मण शरीर धारण करता है, जब क्षत्रियों का विशेष आदर होता है तब क्षत्रिय होकर प्रकट होता है।^{१७}

१३. वही, ११. १६७-१६८.

१४. आदिपुराण, ३८. ४५-४६.

१५. वही, १६. १८४-१८६.

१६. वर्ण, जाति और धर्म, पृ० १८४.

१७. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० १६६.

इतना होते हुए भी उच्चकुलीन शिथिलाचारी व्यक्तियों की जिनसेन ने भरपूर निन्दा की है। अचछरम्लेच्छ^{१८} शब्द का प्रयोग ऐसे दुराचारी ब्राह्मणों के लिए किया गया है जो हिंसक क्रियाकाण्डों द्वारा जीविका सम्पन्न करते थे। जिनको ज्ञान का अहंभाव रहता था और जो पापपूर्ण आचरण द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। इसी प्रकार इन्होंने उच्चकुलीन होने पर भी हिंसा, चोरी, दुराचार जैसे पाप करनेवाले व्यक्तियों को कर्मचाण्डाल कहा है।^{१९}

जिनसेन के उत्तराधिकारी आचार्य गुणभद्र ने इस मत में संशोधन कर जैन सिद्धान्त की मौलिकता को सुरक्षित रखा। एक स्थान पर वे कहते हैं कि ब्राह्मण भी मांसभक्षण तथा वेश्यासेवन आदि न करने योग्य का सेवन करने से क्षण भर में पतित हो जाता है। प्रत्यक्ष में मनुष्यों के शरीर में वर्ण व आकार से कुछ भी भेद दिखाई नहीं पड़ता है।^{२०}

आचार्य जिनसेन के कथन से सामंजस्य स्थापित करने के लिए, साथ ही जैनधर्म की मूल आत्मा की रक्षा के लिए आचार्य सोमदेव जन्म से वर्ण-व्यवस्था तथा गर्भाधानादि क्रियाओं को लौकिक विधि बतलाकर उसका मोक्षमार्ग के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं मानते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह लौकिक विधि है इसलिए इसे वेद और मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के आधार से प्रमाण मानना चाहिए। आत्मशुद्धि में प्रयोजक जैनागम के आधार से इसे प्रमाण मानना उचित नहीं है। इन सब कथनों से स्पष्ट है कि मूलरूप में वैदिक, बौद्ध, जैन किसी भी परम्परा को वर्णों का जन्मना विभाजन स्वीकार नहीं है। उत्तरकाल में इस सिद्धान्त से ब्राह्मण परम्परा हट गई। इसका प्रभाव अन्य परम्पराओं पर भी पड़ा। इन परम्पराओं में वर्तमान में जो जातिविशेष के प्रति व्यामोह दिखाई देता है, यह उसी का परिणाम है।



१८. आदिपुराण, ४२. १७, १७६-१८३.

१९. वही, ३६. १३५-१३६.

२०. उत्तरपुराण, ७४. ४६१-४६२.

जैन एवं न्याय दर्शन में कर्म-सिद्धान्त

श्री प्रेमकुमार अग्रवाल

भारतीय दर्शन में कर्म-सिद्धान्त का स्थान विशिष्ट है। कर्मवाद को ही संसार-वैचित्र्य अथवा सृष्टि-प्रक्रिया का मूल कारण माना गया है। प्रायः सभी दर्शनों में कार्य-कारण-शृङ्खला को जगत् का मूलाधार स्वीकार किया गया है। वेदान्त दर्शन की माया अथवा अविद्या, मीमांसा का अपूर्व शब्द, बौद्धों की वासना एवं अविज्ञप्ति प्राकल्पना, सांख्य की प्रकृति, न्याय-वैशेषिक का ग्रहण एवं संस्कार, जैन दर्शन का कर्मवाद तथा दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि विशिष्ट शब्दों का प्रयोग कर्म-व्याख्या के संदर्भ में किया गया है।

‘कर्म’ शब्द बड़ा व्यापक है। इसका शाब्दिक अर्थ कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया है। जो कुछ किया जाता है वही कर्म है, जैसे खाना-पीना, हंसना-रोना, चलना-दौड़ना, सोचना-बोलना आदि। व्यवहार में काम-घन्घे अथवा व्यवसाय को कर्म कहा जाता है। कर्मकांडी यज्ञादि क्रियाओं को कर्म कहते हैं। स्मार्त चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों को कर्म कहते हैं। पुराणों में व्रत-नियम आदि धार्मिक क्रियाओं को कर्म की संज्ञा दी गई है। कर्ता के व्यापार का फल जिस पर गिरता है उसे व्याकरण में कर्म माना गया है। अतः सामान्यतः कर्मवाद से तात्पर्य उस सिद्धान्त से है जो कर्मों की उत्पत्ति, स्थिति तथा उसके विपाक और फल आदि विशिष्टताओं का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

कर्म के तीन मुख्य विभाग किये गये हैं—कर्म, अकर्म, विकर्म। शास्त्रोचित एवं सभी सामान्य क्रियाएँ (खाना-पीना, हंसना-रोना आदि) कर्म हैं, किन्तु शास्त्र-विरुद्ध तथा सृष्टि-प्रक्रिया की व्यवस्था (हिंसा, चोरी, दुराचार आदि) को भंग करनेवाले कर्म विकर्म कहे गये हैं। अकर्म में कर्म के प्रति संन्यास अथवा अप्रवृत्ति निहित रहती है।¹

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, युक्त है और समस्त कर्मों को करनेवाला है। इस श्लोक में निष्काम कर्म एवं कर्तृत्व की निरहंकार भावना का समावेश है।

अकर्म का यथार्थ ज्ञान मानव को बन्धनमुक्त कर देता है। इस कारण परमाणु, पुद्गल अथवा संचित एवं क्रियमाण कर्मों का उस पर लेश मात्र प्रभाव भी नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में वह स्थितप्रज्ञ, अर्हत् अथवा तीर्थंकर रूप हो जाता है। इसीलिए गीतोक्त अकर्म का मानव-जीवन में पूर्ण ध्यान रखना अधिक श्रेयस्कर माना गया है।

अकर्म का वास्तविक ज्ञान न होने के कारण ही नियतिवादी, दैववादी, पुरुषवादी, यहच्छावादी, स्वभाववादी, पुरुषार्थवादी अनेक विचारों की उत्पत्ति होती है। नियतिवादी सम्पूर्ण व्यवस्था को पूर्ण-नियोजित मानते हैं, तो पुरुषवादी पुरुष विशेष अर्थात् ईश्वर को सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहारकर्ता कहते हैं। स्वभाववादियों के सिद्धान्त स्वभाव पर आधारित हैं तो पुरुषार्थवादी इच्छा-स्वातन्त्र्य को महत्त्व देता है। नियतिवाद में कर्म के कर्तृत्व को प्रधानता नहीं दी गई है। उसके अनुसार यह धारणा सर्वथा असंगत है क्योंकि दैनिक जीवन की सामान्य क्रियाओं का परिहार करना असम्भव है।^१

भारतीय दर्शन की ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी विचारधाराओं में कर्म-सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या पृथक्-पृथक् की गई है। ईश्वरवादी मतानुसार जड़ होने के कारण कर्म स्वतः अकर्मण्य है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ईश्वर ही सृष्टि-वैषम्य का कारण है और मानवकृत सभी कर्मों में उसी की प्रेरणा सन्निहित है। किन्तु अनीश्वरवादी बौद्ध एवं जैन विचारक परलोक में आस्था रखते हुए भी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उनके मतानुसार सृष्टि-प्रक्रिया का सम्पादन जीव अथवा सत्त्वकृत कर्मों द्वारा होता है और कर्मक्षय हो जाने पर उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है।^२

१. गीता, ३.५.

२. 'कर्मजं लोकवैचित्र्यं' - अभि० को० ४.१.

'स्कन्धमात्रं तु कर्म क्लेशाभिसंस्कृतम्'—वही, ३.१६१.

'कर्म विपाकवशादस्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः'—सर्वा०, पृ० ४१५.

न्याय दर्शन में कर्म-सिद्धांत :

न्याय और वैशेषिक दर्शनों में कर्म को द्रव्य का गतिशील धर्म कहा गया है। द्रव्य का निष्क्रिय रूप गुण तथा सक्रिय कर्म है। सक्रिय होने के कारण ही कर्म में पदार्थों के स्थान-परिवर्तन की क्षमता है। पदार्थों में क्रिया-संचार करने के कारण कर्म को संयोग एवं विभाग का माध्यम माना गया है। कर्म गुणरहित है क्योंकि गुण का आश्रय द्रव्य है। वैशेषिकसूत्र में कर्म के लक्षण इस प्रकार वर्णित हैं—एकद्रव्यं गुणं संयोगविभागध्वारनपेक्षकारण-मिति कर्मलक्षणम्। जो एक ही द्रव्य के आश्रित हो, स्वयं गुणरहित हो और संयोग-विभाग का निरपेक्ष कारण हो, वही कर्म है।

कर्म के पाँच भेद किये गये हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन। इनमें से सभी कर्म प्रत्यक्ष नहीं सम्पादित होते। पंच महाभूतों का ज्ञान तो नेत्र द्वारा प्राप्त करना सम्भव है, मनःज्ञान बाह्य इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है। उसको अनुभूति आन्तरिक इन्द्रियों द्वारा ही सम्भाव्य है।

सृष्टि-चक्र का संचालक सृष्टि-कर्म है, किन्तु कर्म की सक्रियता का मूलाधार ईश्वर-रेच्छा है। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार वस्तु-निर्माण अथवा सावयव जगत् की उत्पत्ति परमाणुओं से हुई है। उन्हीं को जगत् का उपादान कारण माना गया है। सूक्ष्मतम एवं अविभाज्य पदार्थ को ही परमाणु कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु जैसे परमाणुओं द्वारा केवल अनित्य पदार्थों का निर्माण-विनाश होता है। उनमें यह क्षमता नहीं है कि आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा जैसे नित्य पदार्थों की उत्पत्ति अथवा विनाश कर सकें, क्योंकि सृष्टि और प्रलय के समय उनकी सत्ता अचल रहती है।

स्वयं संयुक्त हो सृष्टि-रचना करने की शक्ति परमाणुओं में नहीं है। कर्म से प्रभावित होने पर ही उनका पारस्परिक संयोग होता है जिसके मूल में ईश्वर-रेच्छा मुख्य है और वही परमाणुओं के दुग्ने-तिग्ने संयोग द्वारा सृष्टि-रचना करता है। न्यायदर्शन के अनुसार कार्यरत विश्व की रचना का कारण पुरुष विशेष अथवा ईश्वर है। वही विश्व का सृजन, पालन और संहारकर्ता है। शून्य द्वारा सृष्टि-रचना करना संभव नहीं है। इसके लिए उसे दिक्, काल, आकाश, मन आदि परमाणुओं की आवश्यकता अनिवार्यतः होती है। सृष्टि का उपादान कारण स्वयं ईश्वर नहीं है। वह तो मात्र निमित्त कारण है। सर्वत्र,

सर्वशक्तिमान् एवं सृष्टिकर्ता होने के साथ-साथ वह सृष्टि से परे भी है। कर्मों का अधिष्ठाता वही है। वही जीवों को उनके कर्मानुसार अच्छे-बुरे फल देता है। सृष्टि एवं प्रलय उसी पर आधारित हैं। इस प्रकार न्याय-दर्शन में ईश्वरवाद और परमाणुवाद का सुन्दर समन्वय है। उसकी ईश्वरवादी अवधारणा पाश्चात्य दर्शन के 'डेइज्म' (Deism) मत से अत्यधिक मिलती-जुलती है।

किन्तु प्रश्न उठता है कि ईश्वर सृष्टि-रचना करता क्यों है ? इसके उत्तर में न्याय में कहा गया है कि कष्टों से द्रवीभूत हो ईश्वर ने सृष्टि-रचना की है। यदि सभी सुखी हो जायें तो कर्मवाद निरर्थक हो जायगा। मानव का सुख-दुःख उसके पूर्वजन्म के कर्मों (अदृष्ट) पर निर्भर करता है जिसका निर्णायक अथवा नियामक स्वयं ईश्वर है।

जीवों के मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों के लिए न्याय दर्शन में रागद्वेष-मोहादि दोषों को उत्तरदायी कहा गया है। इन्हीं के फलस्वरूप धर्म-अधर्म का जन्म होता है जिन्हें संस्कार कहा जाता है।^१ यद्यपि वैशेषिक द्वारा मान्य २४ गुणों में से अदृष्ट भी एक है तथापि यह संस्कार से भिन्न है। न्याय की भाँति वैशेषिक में भी कर्म के दो भेद किये गये हैं—धर्म और अधर्म।^२ इस प्रकार रागादि दोषों से संस्कार, संस्कार से जन्म, जन्म से रागद्वेष और पुनः संस्कार का चक्र निरन्तर चलता रहता है। जीवों की यह सांसारिक परम्परा बीज एवं अंकुर की भाँति अनादि मानी गई है।

जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त :

जैनशास्त्रों में कर्मवाद का बड़ा विस्तृत विवेचन है। स्कन्ध-परमाणु होने पर भी कर्म हमें दीखता नहीं। आत्मा, परलोक, मुक्ति आदि अन्य दार्शनिक तत्त्वों की भाँति वह इन्द्रिय-गोचर नहीं है। कर्मों का अस्तित्व प्रधानतया आगम एवं अनुमान द्वारा ही प्रतिपादित किया जा सकता है। कर्मवाद को समझने के लिए तीक्ष्ण बुद्धि एवं अध्यवसाय की बड़ी आवश्यकता है।

जैन केवल जीव के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकार करते, वरन् उसे कर्ता और भोक्ता भी मानते हैं।^३ उनके अनुसार जीव स्वभावतः पूर्ण है और

१. न्याय-भाष्य, १. १. २.

२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ४७.

३. षडदर्शनसमुच्चय, श्लोक ४८,

उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त श्रद्धा और अनन्त वीर्य है।^१ किन्तु जीव जब तक पुद्गल से संयुक्त रहता है तब तक उसके ये लक्षण नष्ट न हो केवल तिरोहित हो जाते हैं। इस प्रकार जीव का बाह्यरूप उसकी महिमा को छिपा देता है।

कर्म से मुक्ति प्राप्त करना ही जीवन का परम लक्ष्य है। अन्य भारतीय दर्शनों की भांति जैन दर्शन भी पुनर्जन्म में विश्वास करता है, किन्तु पुनर्जन्म के कारण उसकी भूत-कर्म सम्बन्धी धारणा सर्वथा भिन्न है। जैन दर्शन स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त को पुद्गल मानता है।^२ न्याय-वैशेषिक जिस द्रव्य को भौतिक तत्त्व और वैज्ञानिक जिसे मॅटर (Matter) कहते हैं, उसी को जैन दर्शन में पुद्गल की संज्ञा दी गई है।

कर्म वह कड़ी है जो जीव को उसके सांसारिक परिधान (शरीर) से जोड़ती है। कर्म का निर्माण उस सूक्ष्म पुद्गल से हुआ है जो ज्ञानेन्द्रियों के लिए अग्रम्य है।^३ इस प्रकार कर्मों को पौद्गलिक एवं अचेतन माना गया है।^४

संसार का प्रत्येक प्राणी परतन्त्र है। यह पौद्गलिक (भौतिक) शरीर ही उसकी परतन्त्रता का द्योतक है। प्रति क्षण वह नाना अभावों एवं अभियोगों का शिकार बना रहता है। इसीलिए वह अपने को सदा पराधीन समझता है। इन सामाजिक और आर्थिक विषमताओं के अतिरिक्त विश्व में कुछ प्राकृतिक विषमताएँ भी विद्यमान हैं जिनका मूल कारण प्रत्येक आत्मा के साथ रहने वाला कोई विजातीय पदार्थ है जिसे 'कर्म' कहा जाता है।

आत्मा और कर्म में चोली-दामन जैसा अटूट सम्बन्ध है। जब से आत्मा है तभी से कर्म उसके साथ चिपटे हुए हैं। प्रत्येक क्षण पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मा से विलग होते रहते हैं और मन में उठनेवाले रागद्वेषादि भावों

१. षडदर्शनसमुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृ० ७४.

२. स्पर्शरसगंधवर्णवान् पुद्गलः । —जैनसिद्धान्तदीपिका, १.११.

३. एम० हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० १७०.

४. जीवत्वम् चैतन्यमित्यर्थः । अमूर्तं.....स्यादमूर्तः ।

—सर्वार्थसिद्धि (ज्ञानपीठ), पृ० १६२.

अमूर्तं स्वभावस्यात्मनो.....हृदयु ॥ —बही, पृष्ठ २८१.

द्वारा आत्मा नये कर्मों से बँधता रहता है। जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं हो जाती तब तक यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। जैसे बीज के अग्नि में जल जाने पर बीज की परम्परा नष्ट हो जाती है, वैसे ही रागद्वेषादि भावों के नष्ट होते ही कर्म-परम्परा भी आगे नहीं चलती।

कर्म-बन्धन के सम्बन्ध में जैन दर्शन की अपनी विशिष्ट मान्यता है। उसमें कर्म के दो भेद किये गये हैं—भावकर्म और द्रव्यकर्म। जीव के रागद्वेषादि विकारों को भावकर्म कहा गया है। जैन मतानुसार यह लोक पौद्गलिक कर्म-वर्गणाओं से पूर्णतया आच्छादित है जो बड़ी सूक्ष्म हैं। जीव के रागद्वेषादि परिणामों का साधन पाकर ये कर्म-वर्गणाएँ उस जीव की ओर आकृष्ट हो उससे सम्बद्ध हो जाती हैं। इनको द्रव्यकर्म कहते हैं। जीव के रागद्वेष भावों के अनुसार ही इन द्रव्यकर्मों में अनुभागबन्ध और स्थितिवन्ध होता है। कर्मों को फलदानशक्ति को अनुभागबन्ध और आत्मा के साथ कर्मरूप में ठहरने की शक्ति को स्थितिवन्ध कहते हैं।

बन्ध के चार प्रकार हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिवन्ध और अनुभाग-बन्ध। इनमें से प्रथम दो की उत्पत्ति योग से तथा अंतिम दो की कषाय से होती है। मन, वचन और काय-युक्त जीव की जो शक्ति कर्मों को आकृष्ट करने का कारण होती है उसे 'योग' और क्रोधादि भावों को 'कषाय' कहा गया है। योग की उपमा हवा से, कषाय को गोंद से तथा कर्म की धूल से दी जाती है। जैसे हवा की गति के वेगानुसार धूल उड़ती है, वैसे ही जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक भावों की तीव्रता अथवा मंदता के अनुसार कर्म भी जीव के प्रति आकर्षित होते हैं। जिस प्रकार अधिक लसीले गोंद पर अधिक धूल जमती है, उसी प्रकार योग-आकृष्ट कर्म-परमाणु स्थिति और अनुभागसहित जीव के कषाय भावों की अधिकता एवं न्यूनता के अनुपात में उसके साथ बन्ध जाते हैं।

पाचनयंत्र में पहुँचने पर चबाया हुआ भोजन जैसे सप्त घातुओं में परिणत हो जाता है, वैसे ही जीव के प्रति आकृष्ट हुए परमाणु भी निम्नलिखित आठ कर्मों में बँट जाते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। बद्धकर्म की स्थिति पूरी होने पर वह अपना फल देकर छूट जाता है। इस प्रकार द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म होते हैं और भावकर्म से द्रव्यकर्म का बन्धन होता है। पूर्वबद्ध कर्म ही नवीन कर्मबन्ध के कारण बनते हैं।

संसार का सृजन-पालन-संहार करनेवाली शक्ति की सत्ता को जैनमत ईश्वर नहीं स्वीकार करता। अतः प्रश्न उठता है कि जीव की शरीर-रचना तथा उसके सांसारिक सुख-दुःख की व्यवस्था कैसे होती है ? इसके उत्तर में जैन दर्शन में उल्लेख है कि शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास आदि की रचना पुद्गल से होती है और शारीरिक स्थिरता एवं विनाश भी पुद्गल के ही परिणाम हैं। जीव तथा पुद्गल चिरकाल से साथ-साथ विद्यमान हैं। जीव के परिणाम का निमित्त पाकर पुद्गल ही कर्म बन जाता है और कर्म के उदय का निमित्त प्राप्तकर जीव भी तद्रूप अवस्था धारण कर लेता है। इस प्रकार पुद्गल ही जीव का बंध होता है। मिथ्यादर्शन, कषाय अथवा रागद्वेष के कारण जीवात्मा के सत्पथ से विचलित होते ही पुद्गल के अनन्त परमाणु उससे संयुक्त हो चारों ओर फैलकर कार्मिक शरीर की रचना करते हैं। इससे परम विशुद्ध और निर्मल आत्मा का स्वरूप आच्छन्न हो जाता है।

न्याय में पूर्वजन्मकृत कर्मों के फलानुबंध को शरीरोत्पत्ति का कारण कहा गया है।^१ उसका मत है कि प्रारब्ध-कर्मनुसार ही शरीर की उत्पत्ति होकर आत्मा से उसका संयोग होता है।^२ कर्म-प्रेरित जीव ही संसार-भ्रमण करता है। इस सिद्धान्त को जैन दर्शन भी स्वीकार करता है। पुष्पदंत के अनुसार शंभु तथा ब्रह्मा भी कर्ममुक्त न हो कर्मलिप्त हैं। कर्मविपाक अत्यन्त बलवान् है। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, उसी प्रकार कर्मयुक्त जीव भी अनेक पर्यायों की ओर स्वतः खिंचते चले आते हैं।^३ जैनमत अनीश्वरवादी है। न्याय की भांति वह ईश्वर में विश्वास नहीं करता क्योंकि उसमें कर्म को ही मूल कारण माना गया है।

अणु पदार्थ, अदृष्ट और आत्मा जैसी सत्ताओं को न्याय दर्शन अनादि एवं नित्य मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में ये सत्ताएँ ईश्वर-सृष्ट नहीं हैं। ईश्वर तो कारण रूप में इनका संयोजक अथवा निमित्त मात्र है। यदि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है तो प्रश्न उठता है कि वह जगत् का केवल निमित्त कारण

१. न्याय० ३.२.६४.

२. शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तम् कर्म । —वहो, ३.२.७०.

३. जसहरचरिउ, ३.२२.११-१२.

संभुविबंभुवि कम्मायतउ कम्मविवाउ लोइ बलवंतउ ।

लोहु व कद्धणएण कद्धिज्जइ जीव सकम्मि चउगइणिज्जइ ॥

क्यों है ? समर्थ होने के कारण वह संसार की घट-पट आदि वस्तुओं की रचना भी तो कर सकता था। यह तर्क असंगत जान पड़ता है कि ईश्वर ने संसार-रचना करणावश की है। ईश्वर को जगत् का उपादान कारण न मानने से उसकी अपूर्णता दृष्टिगोचर होती है।

ईश्वर को कारणरूप प्रमाणित करने के लिए न्याय दर्शन जगत् को कार्यरूप मान लेता है। यह सत्य है कि कार्य-कारण की सत्ता परस्परानुपेक्षी है, किंतु इसका क्या प्रमाण है कि जगत् एक कार्य है। जगत् के कारणरूप में ईश्वरीय सत्ता स्थापितकर जगत् को कार्य मान लेना अनुचित है। अतः जगत् को कार्य मान उसके कारणरूप में ईश्वर की प्रस्थापना करने में न्याय दर्शन का प्रयास दोषपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि समस्या ईश्वरसत्ता प्रमाणित करने को है और नैयायिक सिद्धि से पूर्व ही साध्य को सिद्ध हुआ मान लेते हैं।

शंकर एवं भौतिकवादियों का कथन है कि भौतिक परमाणु, आत्मन्, द्रव्यादि पदार्थों को यदि न्याय नित्य और अनादि मानता है, तो जगत् और उसमें व्याप्त वस्तुओं को भी नित्य और अनादि मान लेने में क्या दोष है ? यही आक्षेप जैन दर्शन के भी हैं।

सांख्य-तर्क है कि यदि ईश्वर जगत् से परे और जगत् का कारण भी है, तो ईश्वर का क्या कारण है ? यदि प्रत्येक सत्ता का कोई कारण है तो ईश्वर का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए अन्यथा अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है।

जैन मत है कि मोक्षप्राप्ति ईश्वरीय दया पर आधारित नहीं है। किसी ईश्वरीय शक्ति की अपेक्षा किये बिना कर्म स्वतः समग्र अनुभव की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त है। जैन दर्शन का कर्मवाद निश्चय ही न्याय के कर्मवाद से श्रेष्ठ प्रतीत होता है। कृत कर्मों के लिए मानव स्वयं उत्तरदायी है। यह धारणा मानव को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने में अधिक सक्षम है। अन्य धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म में मानव को अत्यधिक स्वतंत्रता प्रदान की गई है। कृत कर्मों का फल निश्चय ही भांगना पड़ता है। उसमें हस्तक्षेप करने की क्षमता किसी में नहीं है।



षड्दर्शनसमुच्चय के लघु टीकाकार सोमतिलकसूरि

श्री अग्ररचंद नाहटा

सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्रसूरि का षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थ छोटा-सा होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ८७ श्लोकों के इस ग्रन्थ-रत्न पर कई टीकाएँ रची गयी हैं जिनमें से दो टीकाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से लघु टीका का परिमाण १२५२ श्लोकों का है और बृहद् टीका गुणरत्नसूरि की ४५०० श्लोक परिमित है। लघु टीका सन् १९०५ में चौखम्बा संस्कृत सीरिज से दामोदरलाल शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुई थी। उस संस्करण में उसे 'मणिभद्रकृत लघुवृत्ति' बतलाई गई थी पर वास्तव में इसके रचयिता सोमतिलकसूरि हैं, और वह श्री मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर, डभोई से विजयजम्बूसूरि संपादित जो संवत् २००६ में प्रकाशित हुई, वही है।

षड्दर्शनसमुच्चय का सटीक और सामुवाद महत्त्वपूर्ण नया संस्करण पं० महेन्द्र कुमार जी संपादित भारतीय ज्ञानपीठ से दो वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ है। उसकी प्रस्तावना में पं० दलसुख मालवणिया ने लिखा है कि जिनरत्नकोष और जैन-ग्रन्थावली आदि सूची-पत्रों में कहीं भी मणिभद्रकृत टीका का उल्लेख नहीं है। यह भी देखा गया है कि ग्रन्थाग्र १२५२ वाली यह वृत्ति जिसका प्रारम्भ 'सज्ञानदर्शनतले' से होता है, उसकी कई प्रतियाँ कर्ता के नाम के उल्लेख से युक्त हैं और कई प्रतियों में सोमतिलक का कर्तारूप से उल्लेख भी मिलता है। अतः यह कृति मणिभद्रकृत न होकर सोमतिलकसूरि-कृत है। प्रशस्ति से मालूम होता है कि मुनि विद्यातिलक ने अपनी स्मृति के लिए यह वृत्ति बनाई है। इन्हीं विद्यातिलक का दूसरा नाम सोमतिलकसूरि था, यह भी प्रशस्ति के अन्तिम वाक्य से पता लगता है। प्रशस्ति से यह भी प्रतीत होता है कि आदित्यवर्धनपुर में उन्होंने इसकी रचना वि० सं० १३६२

(ई० १३३५) में की थी । अतएव यह कृति गुणरत्न से प्राचीन है । सोम-तिलकसूरि का जन्म वि० सं० १३५५, दीक्षा वि० सं० १३६६, आचार्यपद वि० सं० १३७३ और मृत्यु वि० सं० १४२४ में हैं—गुर्वावली, २७३, २६१ ।

पं० दलमुख मालवणिया ने षड्दर्शनसमुच्चय-लघुवृत्ति के रचयिता सोम-तिलक को समान नाम के भ्रम से तपागच्छ का मान लिया प्रतीत होता है । पर वास्तव में वे रुद्रपल्लीयगच्छ के हैं । टीका की प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है :

श्रीरुद्रपल्लीयगणे गणेशः श्रीचन्द्रसूरिगुणराशिरासीत् ।
तद्बन्धुरिन्दुप्रभकीर्तिभूरिर्जीयाच्चिरंश्रीविमलेन्द्रसूरिः ॥१॥
नन्दन्तु श्रीगुरवः श्रीगुणशेखरमुनीश्वरास्तदनु ।
श्रीसङ्गतिलकसूरिस्तत्पट्टे जयतु चिरमधुना ॥२॥
तत्पदपयोजभृङ्गो विद्यातिलको मुनिःनिजस्मृतये ।
षड्दर्शनीयसूत्रे चक्रे विवृति समासेन ॥३॥

इस प्रशस्ति में कर्ता ने सोमतिलकसूरि नाम न देकर विद्यातिलकमुनि का ही नाम दिया है अतः सं० १३६२ में यह टीका बनी, तब तक उनको आचार्यपद नहीं मिला था, यह सिद्ध होता है । आचार्यपद मिलने के बाद ही उनका नाम सोमतिलक रखा गया था । और प्रतियों में उनके गुरु का नाम संघ-तिलकसूरि स्पष्टरूप से दिया हुआ ही है । तपागच्छ-गुर्वावली के आधार से मालवणियाजी ने जिन सोमतिलकसूरि का जन्म, दीक्षा, आचार्यपद और स्वर्गवास के जो संवत् दिये हैं उन सोमतिलक के गुरु का नाम तो सोमप्रभ-सूरि था । और उन सोमतिलक का आचार्यपद १३७३ में हाँ चुका था । इधर टीकावाले सोमतिलकसूरि को संवत् १३६२ तक भी आचार्यपद नहीं मिला था । अतः प्रशस्ति में बतलाये हुये रुद्रपल्लीयगच्छ पर ध्यान देते और सोम-तिलक के गुरु के नाम पर भी ध्यान दिया जाता तो ऐसी गलती नहीं होती । रुद्रपल्लीयगच्छ के सोमतिलकसूरि के जन्म, दीक्षा, आचार्य और स्वर्गवास का पद अभी तक मिला नहीं है अतः मालवणियाजी के बतलाये हुए सभी संवत् तपागच्छीय सोमतिलकसूरि के हैं, रुद्रपल्लीयगच्छ के नहीं हैं ।

रुद्रपल्लीय संघतिलकसूरि के शिष्य विद्यातिलक द्वारा रचित 'कन्यानय-महावीरकल्पपरिशेष' नामक रचना जिनप्रभसूरि के 'विविधतीर्थकल्प' में प्रकाशित हुई है । इस ऐतिहासिक रचना के प्रारंभ में भी विद्यातिलकमुनि का

नाम है। उनको आचार्यपद उक्त रचना के बाद ही मिला और तभी वे सोम-तिलकसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए।

ग्रह विज्ञातिलयमुखी आणसा संघतिलयसुरीणं ।
परिसेसलवं जंपइ कंनाणयवीरकप्पस्स ॥ १ ॥

सोमतिलकसूरि की सबसे बड़ी रचना शीलोपदेशमाला की शीलतरंगिणी-वृत्ति है जो संवत् १३६४ में रची गई है। इसका श्लोक-परिमाण ६५०० है। इसकी प्रशस्ति में सोमतिलकसूरि का नाम भी आया है, इससे यह सिद्ध होता है कि संवत् १३६३ के बाद और १३६४ तक उन्हें आचार्यपद मिला था। इनकी अन्य रचनाओं में 'त्रिपुराभारती लघुस्तवटीका' संवत् १३६७ में घृतघटीपुर में रची गई जो मुनि जिनविजयजी ने संपादित करके राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान से प्रकाशित करवा दी है। इस टीका में जिनप्रभसूरि के उस रहस्यकल्पद्रुम नामक ग्रंथ के भी उद्धरण हैं, जो ग्रंथ अभी तक पूर्ण रूप से कहीं भी नहीं मिला है। जिनप्रभसूरि, विद्यातिलक या सोमतिलकसूरि के विद्यागुरु भी थे।

रूपरत्नीय सोमतिलकसूरि की एक अन्य ऐतिहासिक रचना कुमारदेव-चरित्रम् ७४० श्लोकों की है और वह भी मुनि जिनविजयजी संपादित कुमार-पालचरित्रसंग्रह में प्रकाशित हो चुकी है। इन सब ग्रंथों के रचयिता सोमतिलक-सूरि ही षड्दर्शनसमुच्चय लघुटीका के रचयिता हैं। इनके गुरु संघतिलकसूरि ने संवत् १४२२ की दीवाली के दिन सरस्वतीपत्तन में 'सम्यक्त्वसप्तिकावृत्ति' की रचना की थी। उसकी प्रशस्ति में सोमतिलक आचार्य और देवेन्द्रमुनि का भी उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

श्रीसङ्घतिलकाचार्यास्तत्पदान्भोजरेणवः ।
सम्यक्त्वसंप्रतेवृत्तिर्विदधुस्तत्त्वकौमुदीम् ॥ ६ ॥
अस्य शिस्यवरस्य सोमतिलकाचार्यनुजस्याधुना,
श्रीदेवेन्द्रमुनीश्वरस्य वचसा सम्यक्त्वसप्तसप्ततेः ।
श्रीमद्विक्रमवत्सरे द्विनयनाम्भोधिच्छणाकृत् प्रमे,
श्रीसारस्वतपत्तने विरचिता दीपोत्सवे वृत्तिका ॥ १० ॥

श्री मालवगणियाजी ने षड्दर्शनसमुच्चय की भ्रवचूर्ण को वाचक उदयसागर-कृत लिखा है। पर लेखन-प्रशस्ति में तो प्रति के लेखक रूप में ही उदयसागर का नाम है, कर्ता के रूप में नहीं।

षड्दर्शनसमुच्चय की अथर्वार्ण ब्रह्म शांतिदासकृत का विवरण देते हुए लिखा है कि केवल ब्रह्म नाम के इस शांतिदास का देसाईकृत जैन साहित्यनो संक्षिप्त साहित्य में उल्लेख मिलता है, किन्तु अन्यत्र ब्रह्म शांतिदास का उल्लेख नहीं मिलता। पर वास्तव में ब्रह्म शांतिदास दिगम्बर लेखक हैं और उनकी कई रचनाओं का विवरण राजस्थान के जैनशास्त्र भंडारों की ग्रंथसूची के कई भागों में मिलता है।

षड्दर्शनसमुच्चय-लघुवृत्ति के रचयिता सोमतिलकसूरि का नाम देखकर सम नामवाले तपागच्छीय सोमतिलकसूरी के आचार्यपद व स्वर्गवास का उल्लेख कर दिया गया है। कई व्यक्तियों ने रुद्रपल्लीय सोमतिलकसूरि के लिए कर दिया है। जैन ग्रंथावली पृष्ठ ५६ से यह भूल प्रारंभ हुई। डभोई वाले संस्करण के प्रारंभिक निवेदन में भी उसी भूल को दोहराया गई और श्री मालवणियाजी को भी इस भूल का शिकार होना पड़ा। इसीलिए यह संशोधनात्मक लेख लिखना आवश्यक हो गया जिससे भविष्य में इस भूल की परम्परा आगे न बढ़े।



समराइच्चकहा में चार्वाक दर्शन

श्री मिनकू यादव

नास्तिकवाद को चार्वाक मत का ही रूप माना जाता है जिसका सिद्धांत सांसारिक सुखों का पूर्णतः उपभोग करना है। क्योंकि चार्वाक दर्शन के अनुसार इस भौतिक जीव का पुनर्जन्म नहीं होता।

निसर्ग से ही प्राणी की परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष सुख की प्राप्ति के लिए तथा प्रत्यक्ष दुःख से निवृत्ति पाने के लिए प्रवृत्ति होती है।^१ इस सिद्धांत में भूमि, जड़, अग्नि और वायु ये ही चार तत्त्व प्रमेय के रूप में स्वीकृत किये गये हैं। इन्हीं चार भूतों का उचित मात्रा में संयोग होने से स्वभावतः चैतन्य उत्पन्न हो जाता है; जिस प्रकार किष्वादि गुण और महुआ आदि मादक द्रव्यों का संयोग हाने पर मादकता^२ एवं चूना, पान, सुपारी के एकत्र हो जाने पर रक्तिमा को उत्पत्ति हो जाती है।^३

जीव : समराइच्चकहा में चार्वाक विचारधारा के अनुसार पांच भूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के मेल से ही उत्पन्न हुए चैतन्य को जीव कहते हैं और जब ये भूत नष्ट हो जाते हैं तो यह कहा जाता है कि जीव मर गया।^४ वार्हस्पत्यसूत्र में भूमि, जड़, अग्नि और वायु इन चार भूतों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति बतायी गयी है।^५ समराइच्चकहा में उल्लिखित है

१. सर्वानन्द पाठक—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ० ८.

२. वार्हस्पत्यसूत्र, ४.

३. सर्वसिद्धान्तसंग्रह, ७.

४. समराइच्चकहा, पृ० २०१, २०४.

५. वार्ह० ४.

कि पृथ्वी, जल, तेज आदि भूतों में एक ऐसे परिणाम की विचित्रता पायी जाती है जिससे चेतनता शरीर में ही आती हैं, अन्यत्र नहीं।^१ आस्तिकवाद के अनुसार ये भूत अचेतन हैं जिनके शरीर रूप में परिणत होने पर प्रत्यक्ष रूप में चेतना नहीं आ सकती क्योंकि जो वस्तु जिनके अलग रहने में नहीं पायी जाती वह उनके समूह में भी नहीं पायी जा सकती। अर्थात् जहाँ आस्तिकवाद अचेतन भूत के अतिरिक्त चैतन्य जीव का अस्तित्व मानते हैं^२ वहीं नास्तिकवाद इन्द्रियों के गुण को ही जीव मानते हैं अर्थात् उनकी अधिमान्यता में शरीर से भिन्न जीव नाम की दूसरी वस्तु नहीं है।^३

लोक-परलोक : प्राचीन आस्तिकवाद जहाँ लोक और परलोक में विश्वास करता था, वहीं नास्तिकवाद मात्र भौतिक लोक (इह लोक) में ही विश्वास करता था। उनके अनुसार स्वर्ग, नरक आदि नाम की कोई वस्तु नहीं हैं क्योंकि पंचभूतों के मेल से उत्पन्न चैतन्य को ही जीव कहते हैं और भूतों के नष्ट हो जाने पर वह जीव भी शरीर के साथ नष्ट हो जाता है जिससे स्वर्ग, नरक आदि परलोक में जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।^४ नास्तिक विचार-धारा के अनुसार स्वर्ग, नरक आदि भूठी कल्पनाएं हैं और यह संसार ही सब कुछ है जहाँ जीव को हर प्रकार के भोगोपभोग का सेवन करना चाहिए।

महाभारत में भी एक स्थान पर इस भौतिक सुख के समर्थन में उल्लिखित है कि परलोक नाम की कोई वस्तु है ही नहीं तो पारलौकिक सुख कहां ?^५ चार्वाकीय प्रतिपादन यह है कि यदि आत्मा का परलोक गमन यथार्थ है तो कभी-कभी दान्धवों के स्नेह से आकृष्ट होकर वह लौट भी आता, पर ऐसा नहीं होता है। अतएव आगत परलौकियों के अभाव में परलोक की सत्ता नहीं सिद्ध होती।^६ वार्हस्पत्यसूत्र तथा त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित में भी उल्लिखित है कि इस चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूयमान लोक के अतिरिक्त किसी भी परलोक की सत्ता नहीं है।^७ लोकायत चार्वाक मत में

१. समरा० पृ० २०६.

२. वही, पृ० २०४, २०६.

३. वही, पृ० २०८, २१०-११.

४. वही, पृ० २०२.

५. महाभारत, शांतिपर्व, ३८. २२-२७; ३९. ३-५.

६. चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ० २७.

७. वार्ह० २९; त्रिषष्टिष० १. १.३३०.

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार जड़ तत्त्वों की अधिमान्यता है।^१ पद्मपुराण में भी एक स्थान पर उल्लिखित है—न कहीं स्वर्ग का अस्तित्व है और न किसी प्रकार के मोक्ष का; व्यर्थ ही लोग इनकी उपलब्धि के लिए कष्ट उठाते हैं।^२ शंकराचार्य ने भी कहा है कि इस प्रत्यक्ष दृश्यमान संसार के अतिरिक्त अन्य कोई भी लोक (स्वर्ग-नरक आदि) तत्त्व नहीं है।^३

हरिभद्रसूरि ने अपने लोकायत मत के संदर्भ में परलोक का खण्डन करते हुए कहा है कि जितना स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन इंद्रियों के द्वारा प्रत्यगोचर हो रहा है उतना ही दूभर है; और यदि कहा जाय कि परलोक की भी सत्ता है तो वह केवल शश-शृंग तथा वन्ध्या के पुत्र के समान ही हो सकता है।^४

उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चार्वाक विचारधारा परलोक नामक सत्ता अथवा उसके अस्तित्व में विश्वास नहीं करती। उनके विचार में जब तक जीवन है तब तक शरीर को हर प्रकार से आराम देना ही यथार्थ है।

मृत्यु : आस्तिक विचारधारा के अनुसार मृत्यु हमेशा मारने के लिए तैयार रहती है।^५ जिसे नास्तिक चिंतकों ने निराधार बताया है। उनके अनुसार जगत् की स्थिति ही ऐसी है कि मूर्ख, पंडित, साधु, गृहस्थ आदि सभी को मरना पड़ता है। पंचभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) के विनष्ट हो जाने पर शरीर के साथ ही साथ जीव भी नष्ट हो जाता है।^६ चार्वाक मत के अनुसार बड़े में रहनेवाली चिड़िया की भांति कोई आत्मा शरीर में नहीं रहती जो मृत्यु के पश्चात् परलोक की यात्रा करे।^७ वार्हस्पत्यसूत्र में भी उल्लिखित है कि मृत्यु अर्थात् इस जड़-तत्त्व निर्मित देह का नाश ही मोक्ष है।^८ दूसरे शब्दों में मृत्यु ही मोक्ष है और जड़-तत्त्व विनिर्मित देह का नष्ट होना ही मृत्यु कहा गया है।

-
१. वार्ह० २. २. पद्मपुराणा, सृष्टि खण्ड, १३. ३२३.
 ३. सर्व सि० सं० ८.
 ४. षड्दर्शनसमुच्चय, ८१.
 ५. समरा० पृ० २०१.
 ६. वही. ७. वही.
 ८. वार्ह० ८ (मरणमेवापवर्गा).

विषय-सुख : आस्तिक चिंतकों के अनुसार जहाँ एक ओर विषय सुख का परिणाम भयानक माना गया है, वहाँ दूसरी ओर नास्तिक विचार के लोग विषयों के उपभोग के समर्थन में कहते हैं कि आहार का भी परिणाम भयानक है तो क्या इसे भी छोड़ देना चाहिए।^१ उनके विचार में जगत् की स्थिति ही ऐसी है जहाँ उपाय जाननेवालों के लिए दारुणत्व की संभावना नहीं है।^२

आस्तिकवाद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की साधना को उचित बताते हैं, किन्तु नास्तिकवादी संप्रदाय के लोग एक मात्र काम अर्थात् विषय शक्ति को ही पुरुषार्थ मानते हैं।^३ एक अन्य स्थान पर बताया गया है कि एक कामक्रीड़ा के अतिरिक्त अन्य कोई भी ब्रह्म या परमेश्वर आदि प्राणियों की उत्पत्ति का कारण नहीं है।^४ आचार्य वात्स्यायन ने भी विषय-सुख का चयन उचित बताया है। उनके अनुसार कामाचार भी दैनिक आहार की भांति सेवनीय है, क्योंकि इसके सर्व परित्याग से उन्माद आदि दोषों की उत्पत्ति की सम्भावना रहती है जिससे शरीर-स्थिति भी उपद्रवित हो सकती है।^५ प्रबोधचन्द्रोदय में भी विषय सुख के उपभोग का समर्थन प्राप्त होता है।^६ अतः चार्वाकमत में विषयों का सेवन ही उचित बताया गया है, क्योंकि विषय सुख सेवन से ही सुख की उपलब्धि होती है न कि तप, व्रत, संयम आदि कष्टों से।

मनुष्यत्व : आस्तिकवाद जहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति को ही मनुष्य का आधार मानता है तथा उसे सुकृत कर्म का परिणाम बताता है, वहीं नास्तिकवाद मनुष्यत्व को भूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु और आकाश की ही परिणति बताता है।^७ वार्हस्पत्यसूत्र में बताया गया है कि अर्थ अर्थात् धनोपार्जन तथा कामाचरण ये दो ही पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृत किये गये हैं।^८ यहाँ धर्म और मोक्ष की मान्यता नहीं है। ★

१. समरा० पृ० २०२-३.

२. वही, २०२-३.

३. वार्ह० ५.

४. वही, १६.

५. कामसूत्र-जयमंगला टीका, १.२.४६.

६. प्रबोधचन्द्रोदय, २.५०.

७. समरा० पृ० २०२.

८. वार्ह० २७.

विश्वेश्वरकृत शृङ्गारमंजरी-सट्टक का अनुवाद

डा० के० आर० चन्द्र

(गतांक से आगे)

वसन्ततिलका—पहले जो प्रसंग चल रहा था वह मैंने ही शुरू किया था, ऐसी अपेक्षा आपको नहीं करनी चाहिए।

विदूषक—तो फिर हमने कौन सा प्रसंग शुरू किया था।

वसन्ततिलका—वही विरहावस्था का वर्णन।

विदूषक—सच बात है, राजा ने वसन्त ऋतु के समय प्रिय जन के विरह के दुःख से व्यथित हृदय वाले किसी व्यक्ति की अवस्था का वर्णन किया था।

वसन्ततिलका—किसी को अपनी दुःखावस्था का दूसरे व्यक्ति को प्रत्यक्ष ज्ञान होना शक्य न होने के कारण उसकी (राजा की) ही ऐसी विरह अवस्था नहीं है यह तुमने कैसे जाना ?

विदूषक—विरह के कारण का अभाव निश्चित होने के कारण।

वसन्ततिलका—तो फिर अन्य नायिका नहीं है यह निश्चित करने के लिए क्या उपाय है ?

विदूषक—अभीतो कोई दूसरी नायिका दिखाई नहीं देती।

वसन्ततिलका—ऐसा निर्णय भी नहीं किया जा सकता।

विदूषक—तो क्या तुम ऐसा कहना चाहती हो कि अज्ञात वस्तु के लिए भी इच्छा होती है।

वसंततिलका—तो तुम क्या ऐसा कहना चाहते हो कि कोई वस्तु पास में न होने से उसके बारे में अन्य तरीके से ज्ञान ही नहीं होता ।

विदूषक—ऐसे कुतर्क का सहारा लेकर आपके द्वारा सभी बातें विपरीत की जा रही हैं ।

वसन्ततिलका—तो तुम तो फिर प्रत्यक्ष के विरुद्ध सहारा लेनेवाले महातार्किक हो ।

विदूषक—तो क्या प्रमाण के न होते हुए भी वस्तु की कल्पना करना तुम्हें मान्य है ?

वसंततिलका—तो क्या प्रमाण के होते हुए भी वस्तु का निषेध करना यही तुम्हें अभिप्रेत है ?

विदूषक—तो फिर तुम्हारे द्वारा उजायी गयी बात के लिए क्या प्रमाण है ?

वसंततिलका—उच्चारित शब्द ही ।

विदूषक—तो बतलाओ वह कौसा था ?

वसंततिलका—('उसके साथ बात-चीत हो या नहीं' इत्यादि दो श्लोक (२८-२९) फिर से पढ़ने चाहिये) ।

राजा—(स्वयं) ओह ! एक बार ही उच्चारित (शब्दों को) ग्रहण करने का सामर्थ्य ।

विदूषक—अन्य व्यक्ति संबंधी वर्णन (अभिप्राय) होने के कारण उसकी संगति बिठाने से तुम्हारा मन्तव्य कैसे सिद्ध हो गया ?

वसंततिलका—अन्य व्यक्ति संबंधी होने के प्रमाण के अभाव में ।

विदूषक—कोई दूसरी संभावना मत करो । सच ही राजा ने किसी (अन्य व्यक्ति) की अवस्था का वर्णन किया था ।

वसंततिलका—तुम्हारे जैसे इस प्रकार के सत्यवादी की आसता का निश्चय हो जाने पर मैं इस पर विश्वास कर सकूंगी ।

विदूषक—मेरे प्रति (मुझ पर) अविश्वसनीयता क्यों ?

वसंततिलका—यदि आप अपने बच्चे के सिर पर हाथ रखकर अपनी

प्रामाणिकता स्थापित करें तो भी सैकड़ों शपथ के बाद (आपके द्वारा कहा गया) सत्य अन्य अर्थ वाला ही होगा ॥ ३० ॥

राजा—(स्वयं) इसके मन में यह बात निश्चय ही बहुत दृढ़ हो गयी है । वचन-मात्र से इसका निराकरण करना साधारण जन की अनभिज्ञता के समान होगा । निवेदन करने पर आंशिक सत्यता साबित होने से किसी भी प्रकार यहाँ पर समाधान होने की संभावना है । तो इसको सत्य बात बता दूँ । (प्रकट में) हे वसंततिलके ! स्वप्न में आज मैंने कोई एक अपूर्व गुणसमुदाय से सुशोभित नायिका देखी । उसी के बारे में यह वृत्तान्त उपस्थित हुआ था ।

वसंततिलका—(स्वयं) तब तो वह प्रिय सखी शृङ्गारमंजरी ही होनी चाहिए । (प्रकट में) उसका रूप-सौंदर्य महाराज के हृदय का हरण कर सकता है इसका निर्णय (उसके) प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में नहीं हो सकता ।

राजा—तो चित्र पर अंकित करके दिखाऊँगा ।

वसंततिलका—जैसी महाराज की आज्ञा । (बाहर जाकर चित्रकारी की सामग्री सहित प्रवेश करके महाराजा को देती है ।)

राजा—(ग्रहण करके)

यद्यपि उसकी रूप-विशेषता को (पूर्णतः) मन (हृदय) से स्मरण करने में असमर्थ हूँ, फिर भी जो कुछ मालूम है उसे चित्रित कर तुम्हें दिखाता हूँ ॥३२॥

(चित्र खींचना शुरू करता है ।)

वसंततिलका—(स्वयं ही)

महाराज शृङ्गारमंजरी के हृदय के स्नेह-बंधन हैं और यदि वह भी महाराज की हो तब तो उसके गुण समुदाय ने विजय पा ली ॥३३॥

राजा—भावनावश मुझे सभी पदार्थों में प्रेमिका ही प्रेमिका दिखाई देती है । क्या उसी का चित्र खींचा जा रहा है या नहीं और सच वही चित्र है या नहीं ऐसी मेरी बुद्धि हो रही है ॥३४॥

और भी,

यहाँ पर क्या और किस तरह से मैं (चित्र को) चित्रित कर सकूँगा क्योंकि जो जो रेखा खींची जाती है उसको मेरी अश्रुधारा पोंछ डालती है

और उससे मन भर जाने के कारण मेरे हाथ की अति कंपनशील अंगुलियों में लेखनी (तूलिका) भी नहीं ठहरती ॥३४॥

तो भी प्रारम्भ किया है । (चित्र खींचकर वसंततिलका को देते हैं ।)

वसंततिलका—(देखकर स्वयं ही आनन्द के साथ) सौभाग्य से प्रिय सखी शृंगारमंजरी के प्रणय की इसमें संभावना करके मुझे अपना विषय मिल गया । और—शरदऋतु के पूर्ण चन्द्रमा की तरह यह वही सुन्दर मुख, खिलते हुए कमल-पत्रों की आकृति वाले ये नेत्र, श्रेष्ठ हस्ति के कुंभ के समान सुन्दर (सुगठित) ये वही उरोज और यही वह देह-लता दिखाई देती है जो सौंदर्य-कन्द (कोष) से उत्पन्न हुई है ॥ ३६ ॥

(प्रकट में)

यदि इसके शरीर पर ऐसी सौंदर्य रेखा नहीं होती तो किसी भी प्रकार से महाराजा के (द्वारा उसके प्रति आकर्षित होना) मन में उसके द्वारा स्थान पाना असंभव ही होता ॥ ३७ ॥

(वह एक श्लोक लिखती है)

पिण्डे के अंदर बन्द एक चकोरी अपने नेत्रों का विस्तार किये इधर-उधर दिशाओं की तरफ अपना मुख फिराती हुई भाग्यवश विधि की आज्ञा से आपकी दृष्टि में (पहली बार) आयी । वह फिर से आपको चन्द्र-दृष्टि का दर्शन करना चाहती थी (द्वितीय बार दर्शनार्काक्षिणी थी) परंतु आपके दर्शन (का विषय नहीं बन सकी) नहीं हो सके । इसलिए महल के अंदर बंदी बनी हुई ही अंतिम (दसवीं) दशा को (कामावस्था को) प्राप्त हो गई है ॥ ३८ ॥

राजा—(पढ़ कर) वसंततिलके ! यह क्या है ? मुझे जानने की इच्छा है ।

वसंततिलका—अपने पर जो अनुरक्त नहीं है ऐसे नायक पर अनुरक्त होकर परवश बनने वाली नायिका की जानकारी देने वाला यह श्लोक प्रिय सखी शृंगारमंजरी ने बनाया है ।

राजा—स्वयं ही या दूसरों की सलाह से ।

वसंततिलका—अपने कवित्व संबंधी आर्य गीतम के साथ मेरा जो वार्तालाप (संवाद) हुआ उसे महाराज ने अवश्य ही समझ लिया होगा ।

राजा—यहाँ पर लिखने का फिर क्या उद्देश्य है ?

वसंततिलका—कार्यकारण संबंध ही ।

राजा—क्या यह तुम्हारी प्रिय सखी है ?

वसंततिलका—वैसा ही जैसा महाराज फरमाते हैं ।

श्रीर—

आपके दर्शन से प्रज्वलित होने वाली मदनरूपी अग्नि से जिसका अंग-अंग जल रहा है उसने ही यह श्लोक महाराज को उद्देशित करके गाया है ॥ ३९ ॥

श्रीर यहाँ आने का मेरा परिश्रम इतना मात्र फलदायी हुआ ।

राजा—तो (यही) उपयुक्त है कि इस प्रसंग के कारण कुछ काल के लिए हमारे द्वारा धीरज रखा जाय ।

वसन्ततिलका—तो महाराज ! आज्ञा दीजिये जिससे मैं यह घटना प्रिय सखी को निवेदित कर दूँ ।

राजा—अच्छा ! वस्तु को समझने वालों को कोई भी संदेश बोलकर सुनाने की आवश्यकता नहीं ।

(नेपथ्य के अंदर)

शंकर (त्रिपुर-शत्रु) का वह संच्या-नृत्य आपका मंगल करे, जिसमें (गोल-गोल) घूमने से नागेन्द्र (भुजंग) ढीले हो जाने से केश-कलाप छूट जाने के कारण इधर-उधर फँला हुआ पीले रंग का जटामंडल चमक रहा है जो मानों ललाट प्रदेश पर उत्पन्न अग्नि में से निकलने वाली ज्वालामुक्तियों का समूह हो ॥ ४० ॥

(सभी चले जाते हैं ।)

॥ प्रथम यवनिका समाप्त ॥

(क्रमशः)

आपनी बात



जैन साहित्य में न्याय-व्यवस्था

इस बात में संदेह नहीं कि प्राचीन काल में कानून-व्यवस्था अत्यन्त कठोर थी। यहाँ तक कि उस समय सामान्य अपराध पर भी मृत्युदंड का विधान था। जैन साहित्य के अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय के लोचरहित कानून आज की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावी थे। चन्द्रगुप्त के शासनकाल में सामान्य अपराध पर अङ्गच्छेद, राजसम्पत्ति विनष्ट करने पर मृत्युदंड जैसे कठोर कानूनों का विधान रहा है। जैन पौराणिक काल में तो इस व्यवस्था का और भी अधिक कठोर रूप देखने को मिलता है। महापुराण में फौजदारी और दीवानी अभियोगों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि तत्कालीन समाज में धरोहर छिपाने पर जीभ उखाड़ना, चोरी में शूली, व्यभिचार में लिङ्गच्छेद तथा राजाज्ञा उल्लंघन पर मृत्युदंड तक का कानून निर्धारित था। इस प्रकार के कानूनों का आशय अपराधियों को अपराध की गुरता का भान कराने के साथ-साथ जन-सामान्य को उनसे विरत रहने की प्रेरणा देना था।

एक और जहाँ फौजदारी मामलों में कानून-व्यवस्था कठोर थी, नागरिक प्रशासन के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसमें हमें मानवीय संवेदना और सहानुभूति का पुट भी मिलता है। यद्यपि यह बात आज के कानून के बारे में भी कही जा सकती है लेकिन कानून का इच्छित-भाष्य कर उत्पीड़न की सुविधा भी इसमें बराबर बनी हुई है जिसका उस समय सर्वथा अभाव था। यहाँ पर नागरिक प्रशासन विषयक कुछ कानूनों पर प्रकाश डालना उचित होगा जो तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के आधार-स्तम्भ थे। इस प्रकार के कानूनों में भू-सम्पत्ति, दायभाग-नागरिकता, कर्म, अर्थ और सामाजिक नियंत्रण जैसे महत्वपूर्ण विषयों से संबंधित कानून मुख्य हैं।

भूमिकर के संबंध में आ० सोमदेव, आ० जिनसेन एवं महाभारतकार का मत है कि प्रजा से उपज का छठा अंश कर के रूप में ग्रहण करना चाहिए (नीति वा०, व्यवहारभाष्य) किन्तु कौटिल्य ने सम्पन्न कृषकों तथा राजकीय साधनों का उपयोग करने वालों से अधिक कर का विधान किया है। उसके अनुसार यह कर कुल उपज का चौथाई अथवा तिहाई होना चाहिए। भूमि में प्राप्त धन का आधा भाग राजकोष में जमा करने का नियम था और शेष आधा भाग प्राप्तकर्ता को दिया जाता था।

सम्पत्ति पर आ० रविषेण स्त्री का खास कर विधवा का अधिकार बिल्कुल भी नहीं मानते। जैन आगम साहित्य की कथाओं में भी विधवा को दाय-भाग से वंचित रखा गया है (कृतपुण्यकथा)। नाबालिग की सम्पत्ति की रक्षा राजा करता था (श्रेणिकचरित्र, पद्य पु०), साथ ही ऐसी सम्पत्ति की भी राजा तीन वर्ष तक रक्षा करता था जिसका कोई उत्तराधिकारी नहीं मिल रहा हो। निःसंतान विधवा स्त्री यदि गर्भिणी होती तो उदरस्थ शिशु को उत्तराधिकारी मान लिया जाता था (आदिपुराण, व्यवहारभाष्य)।

राजकोष वृद्धि के लिए कुछ कर संबंधी अनिवार्य कानूनों का विधान था। उन करों में उत्पादन आयात-निर्यात २०%, प्रत्यक्षकर—द्यूतस्थल, वेश्यालय, विक्रीकर, भवनकर, मापतोल और आय कर प्रमुख थे (की० अर्थ०, पिण्डनिर्युक्ति, नीति वा०)। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि-पशुपालन एवं घन्घा कर का कानून था।

औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करनेवाले श्रमिकों की रक्षा के लिए आज की ही तरह अनेक कानूनों का विधान था। श्रमिकों तथा भागीदारों के हित संरक्षण की दृष्टि से लाभांश घोषित करने का कानून था। यह लाभांश आधे भाग से लेकर छठे भाग तक हो सकता था (कल्पसूत्र)। ऋणी व्यक्ति को दास बनाया जा सकता था तथा ऋण वसूली के लिए शांतिपूर्ण वैधानिक उपाय—जैसे धरना, अनशन आदि का सहारा लिया जा सकता था।

वैवाहिक नियमों के विषय में जातीय बन्धन कठोरता से लागू नहीं होते थे। हालांकि जैन साहित्य में कुछ स्थल अपवाद स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं (क्षत्रचूड़ामणि, गर्द्यचिंतामणि) फिर भी हमें चारों वर्णों के वैवाहिक संबंधों का उल्लेख मिलता है। विवाह की निश्चित वयसीमा निर्धारित नहीं थी इसीलिए आगम तथा पुराणकालीन समाज में अनमेल और अपरिपक्व अवस्था में

विवाह होते थे जिन पर कानूनी प्रतिबन्ध नहीं था और न इस बात पर कि कोई व्यक्ति कितने विवाह करे। जैन साहित्य में सर्वत्र बहुभार्यता के उल्लेख मिलते हैं (जीव० चस्पू तथा जैन कथा-साहित्य सम्पूर्ण) ।

नागरिकता सम्बन्धी कानून की चर्चा करते हुए आ० हेमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' में लिखा है कि राज्य का प्रत्येक निवासी नागरिक उस राज्य का नागरिक मान लिया जाता था (४.४.७१) । वह उस स्थिति में भी नागरिक माना जाता यदि उसका अथवा पूर्वजों (६.३.२१४) का जन्म उस राज्य में हुआ हो । विद्या आदि के कार्य से विदेश में बसे हुए (६.३.१५) अथवा आकर बसने वाले विधिवत् प्रार्थना-पत्र देकर नागरिकता प्राप्त कर सकते थे । राज्य के प्रति भक्ति, निष्ठा रखने वाले, शरणार्थी, जो पुनर्वास के इच्छुक हों, को नागरिकता प्रदान की जाती थी (६.३.१४६) ।

राज्य के निर्वाचन में प्रत्येक व्यक्ति भाग ले सकता था । किन्तु जिसको मानसिक स्थिति विकृत हो जाती, दास हो जाते (देखें—पतंजलि का भाष्य—नैतत्तेषां दासे वा भवति कर्मकरे वा) या जिन पर (विदेशी) खुफिया होने का सन्देह होता (६.४.७४), उन्हें निर्वाचन एवं मताधिकार से वंचित रखा जाता था ।

राज्य के समस्त नागरिकों को ऊँच-नीच का भेद-भाव किये बिना भाषण, सभा, वाद-विवाद, जीवन, व्यवसाय, सम्पत्ति एवं धार्मिक कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी । लेकिन धार्मिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत नागरिक परिवार की व्यवस्था किये बिना अथवा रोगी, कँदो, विकलेन्द्रिय आदि स्थितियों में दोषा नहीं ले सकता था । भाषण की स्वतन्त्रता होने से अन्य मतावलम्बियों की आलोचना करना अनुचित नहीं माना जाता था (देखें—बौद्ध ग्रंथ उद्गुम्बरिक-सीहनाहसुत्त तथा जैन ग्रन्थ भगवतो०) ।

नागरिक स्वतन्त्रता में मुख्यरूप से स्मरणीय बात यह है कि चोरों द्वारा की गई क्षति की पूर्ति राजकोष से करने की मांग की जा सकती थी, जिसकी व्यवस्था राज के जनतन्त्र [समाजवादी जनतंत्र] में भी नहीं है ।

समाज का निर्धन वर्ग करमुक्त था और इसके बदले में समय-समय पर उनसे राजकार्यों के निमित्त बेगारी लेने का विधान था । बेगारी देने वाले व्यक्तियों को राज्य की ओर से सिर्फ भोजन प्राप्त करने का अधिकार था ।

तपस्वी, निर्धन-विधवाएँ, अपङ्ग, ब्राह्मण और राजसेना में अधिक सैनिक भेजने वाले ग्राम भी करमुक्त थे तथा राजकीय संरक्षण प्राप्त करने के अधिकारी थे ।

इस प्रकार संक्षेप में कानून-व्यवस्था का विवेचन करने पर स्पष्ट होता है कि इस व्यवस्था का आधार धर्म और व्यवहार रहा है । आज भी किसी न किसी रूप में न्याय अथवा कानून निर्माण के समय धर्म और लोक व्यवहार का ध्यान रखा जाता है । यद्यपि आज की समाजवादी विचारधारा में इन सिद्धान्तों की आवाज जरूर क्षीण हो गई है, फिर भी भारतीय परम्परा में कानून देशधर्म से प्रभावित होता आया है और आगे भी होता रहेगा ।



श्री जगन्

Shri Sohanlal Jaindharma Pracharak Samiti, Amritsar

The seventieth meeting of the Managing Committee was convened on Sunday, 8th October, 1972. The following members were present at the premises of Lala Tek Chand Jain of Delhi in 150, Virnagar Colony : M/s. Shri Lal Jain, Manohar Lal Jain, Amar Chandra Jain, Tek Chand Jain, Bhupendra Nath Jain, Hans Raj Jain, Shadi Lal Jain, J. P. of Bombay, Gulab Chand Jain, Jangi Lal Jain, D. D. Malvania, Lok Nath Jain and Harjas Rai Jain. Shri Shadi Lal Jain, J. P., the Vice President, took the chair. The minutes of the last meeting of 14th November, 1971 were confirmed. The budget for 1972 estimated at Rs. 1,6,728/- was, after some discussion, adopted. It was decided that signature of Shri Bhupendra Nath Jain be supplied to the State Bank of India, Delhi and Varanasi and to the Bank of India, Delhi and Amritsar, for the banks to let him operate the Samiti's accounts. Rs. 15/- P. M. was sanctioned for Diwan Chand, the servant of Shri Gulab Chand. The old office-holders, viz. Shri Tribhawan Nath Jain of Kapurthala for Presidentship, Shri Jangi Lal Jain and Shri Shadi Lal Jain, J. P., for Vice-Presidentships, Shri Harjas Rai Jain for General Secretaryship, Shri Bhupendra Nath Jain for Joint-Secretaryship and Shri Gulab Chand Jain for treasurership, were re-elected. Thanks of the meeting were offered to Lala Tek Chand Jain for arranging the meeting at his place. Thanks of the meeting were also voted to the Chair and the meeting closed.

Two letters, one from Shri Mohan Lal Khariwal and the other from Shri Indra Chand Suchanti, disclosing inability to attend, were noted. Rs. 1000/- @ Rs. 250/- p. m. from Shri Mohan Lal Khariwal which have been received for institution of the Khincha & Khariwal Research Scholarship and Rs. 5000/- from Jeevan Jagan Charitable Trust for the publication of a book associated with Shri Jagan Nath, were also noted.

V A R D H M A N

VSM

Quality Hosiery Cotton Yarn

For

● **BETTER STRENGTH**

● **ELEGANCE**

● **ECONOMY**

**Exporting Cotton Yarn to Eastern &
Western Countries**



Manufactured by :

VARDHMAN SPINNING & GENERAL MILLS LTD.

LUDHIANA :: INDIA

Gram : "VARDHMAN"

Tele : 4802

4802

U S E
C H A T O N S

for Vanity Wear and Costumes Jewellery

CHATONS PRIVATE LIMITED

PARIJAT, 95, MARINE DRIVE
B O M B A Y - 2

Manufacturers of :

Quality Chatons & Rainbow 'Iris Stones'

Vaccum Metallisers of Plastics

Glass & Metal Articles

Works :

Andrewnagar, Ghodbunder Road, Bombay 68 (W.B.)

Phone : 242715; 661789

अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Lord Mahavira—Dr. Bool Chand	5.00
2. Hastinapura—Dr. Amar Chand	3.00
3. World Problems & Jaina Ethics—Dr. Beni Prasad	0.50
4. Jainism : The Oldest Living Religion—Dr. J. P. Jain	2.00
5. Mahavira—Dr. Amar Chand	0.50
6. Studies in Jaina Art—Dr. U. P. Shah	10.00
7. Jainism in Indian History—Dr. Bool Chand	0.50
8. Progress of Prakrit and Jaina Studies—Dr. B. J. Sandesara	1.00
9. Jaina Monastic Jurisprudence—Dr. S. B. Deo	3.00
10. An Early History of Orissa—Dr. Amar Chand	21.00
11. Literary Evaluation of Paumacariyam—Dr. K. R. Chandra	2.00
१२. जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१३. जैन संस्कृति का हृदय—पं० सुखलालजी	०.५०
१४. अन्तर्निरीक्षण — पं० सुखलालजी	०.५०
१५. जैन साहित्य की प्रगति— पं० सुखलालजी	१.००
१६. भगवान् महावीर—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१७. आत्ममीमांसा— पं० दलसुख मालवणिया	२.००
१८. जैन अध्ययन की प्रगति— पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१९. गुजरात का जैनधर्म - श्री जिनविजयजी	१.००
२०. जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार—श्री फतहचन्द बेलानी	२.००
२१. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ— डा० जगदीशचन्द्र जैन	२.००
२२. हिन्दू, जैन और हरिजन मन्दिर प्रवेश—श्री पृथ्वीराज जैन	१.००
२३. जीवन में स्याद्धाद - श्री चन्द्रशंकर शुक्ल	१.००
२४. हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल—डा० भोगीलाल सांडेसरा	०.५०
२५. मगध—श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'	१.००
२६. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य—डा० उमाकान्त शाह	१.००
२७. स्वाध्याय—महात्मा भगवानदीन	२.००
२८. महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन—डा० भोगीलाल सांडेसरा	४.००

—लिखिए—

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जैन इन्स्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-५

अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Lord Mahavira—Dr. Bool Chand	5.00
2. Hastinapura—Dr. Amar Chand	3.00
3. World Problems & Jaina Ethics—Dr. Beni Prasad	0.50
4. Jainism : The Oldest Living Religion—Dr. J. P. Jain	2.00
5. Mahavira—Dr. Amar Chand	0.50
6. Studies in Jaina Art—Dr. U. P. Shah	10.00
7. Jainism in Indian History—Dr. Bool Chand	0.50
8. Progress of Prakrit and Jaina Studies—Dr. B. J. Sandesara	1.00
9. Jaina Monastic Jurisprudence—Dr. S. B. Deo	3.00
10. An Early History of Orissa—Dr. Amar Chand	21.00
11. Literary Evaluation of Paumacariyam—Dr. K. R. Chandra	2.00
१२. जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१३. जैन संस्कृति का हृदय—पं० सुखलालजी	०.५०
१४. अन्तर्निरीक्षण—पं० सुखलालजी	०.५०
१५. जैन साहित्य की प्रगति—पं० सुखलालजी	१.००
१६. भगवान् महावीर—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१७. आत्ममीमांसा—पं० दलसुख मालवणिया	२.००
१८. जैन अध्ययन की प्रगति—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१९. गुजरात का जैनधर्म—श्री जिनविजयजी	१.००
२०. जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार—श्री फतहचन्द बेलानी	२.००
२१. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ—डा० जगदीशचन्द्र जैन	२.००
२२. हिन्दू, जैन और हरिजन मन्दिर प्रवेश—श्री पृथ्वीराज जैन	१.००
२३. जीवन में स्याद्वाद—श्री चन्द्रशंकर शुक्ल	१.००
२४. हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल—डा० भोगीलाल सांडेसरा	०.५०
२५. मगध—श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'	१.००
२६. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य—डा० उमाकान्त शाह	१.००
२७. स्वाध्याय—महात्मा भगवानदीन	२.००
२८. महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन—डा० भोगीलाल सांडेसरा	४.००

—लिखिए—

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-५

Presrite

**U. F. & M. F. moulding
Powders**

Prescol

U. F. synthetic resins

Plastic Moulds

**for injection &
compression moulding**



**The
Quality Tag
Renowned Throughout
the Country**

Nuchem-5